प.प. श्रीवासुदेवानंदसरस्वतिविरचितं

योगरहस्यम्।

स्मृतोऽप्यवति यो विघ्नं निघ्नमम्बासुतः स्तुतः। गन्धर्वस्थः स हि कलौ मलौघघ्नोऽस्तु मे हृदि।।
नममि शारदां देवीं वीणावादनतत्पराम्। सरस्वती जगन्माता सा मे बुद्धिं प्रचोदयात्।।
वासुदेवयतिं वन्दे वामनं मम सद्गुरुम्। कवीश्वरं च दत्ताख्यं याचे मतिप्रकाशनम्।।
वासुदेवमयं चित्तं यस्य भक्ताभिवत्सलम्। अवधूतेऽवधूतं तं श्रीरंगं प्रणमाम्यहम्।।

उपोद्घात

योगरहस्य यह केवल 42 श्लोकों का प्रकरण द्विसाहस्री गुरुचरितम् के अंत में समाविष्ट दो रहस्यों में से एक है। द्विसाहस्री प.प.श्रीवासुदेवानंदसरस्वती स्वामी महाराज का आद्य ग्रंथ है, जिस की रचना पूर्वाश्रम में माणगांव में हुई। उस पर टीका महाराजश्री ने संन्यासाश्रम में, करीब 15 वर्ष बाद, प्रभास और द्वारका क्षेत्र में लिखी है। स्वरूपतः यह ग्रंथ मराठी श्रीगुरुचरित्र का संक्षिप्त संस्कृत अनुवाद है। परंतु अनेक प्रकार से यह ग्रंथ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। श्रीगुरुचरित्र की कथाओं का अनुवाद तो उस में है ही। उन्हीं के साथ महाराजश्री ने इस ग्रंथ में और कई महत्त्वपूर्ण तथा गूढ विषयों का उद्घाटन किया है। ग्रंथ के आरंभ में श्रीगुरुस्तुति, ग्रंथ के बीच चौथा अध्याय (जिसे महाराजश्री स्पष्ट रूप से क्षेपक कहते है), और अंत में योग और बोध नाम के दो रहस्य आते हैं। इन के द्वारा महाराजश्री ने मराठी गुरुचरित्र में जो विषय संकीर्ण और संदिग्ध रूप से ही लक्षित हुए हैं, उन को विशद किया है। उदाहरणार्थ, श्रीगुरुचरित्र में श्रीदत्तजन्म की कथा आती है और श्रीपादश्रीवल्लभ तथा श्रीनृसिंहसरस्वती को श्री दत्त भगवान के अवतार कहा गया है। परंतु इन दो महापुरुषों के कार्य और तत्त्वज्ञान का श्रीदत्तपरंपरा से संबंध प्रायः संदिग्ध है। श्रीगुरुस्तुति तथा चौथे अध्याय में श्रीदत्त भगवान का स्वरूप, श्रीदत्तपरंपरा का तात्त्विक आधार और उपसनापद्धती सुस्पष्ट की गई है। तथा दत्तसंप्रदाय का श्रीभागवत परंपरा से नाता लक्षित किया है। उसी तरह से जगह जगह पर, विशेष कर बोधरहस्य में, श्रीदत्तपरंपरा के शांकर अद्वैत वेदांत से घनिष्ठ संबंध पर प्रकाश डाला गया है। उसी प्रकार योगरहस्य के द्वारा मराठी गुरुचरित्र में अध्याहृत योगशास्त्र का दत्तपरंपरा में विशेष स्थान विशद किया गया है। इस ग्रंथ को स्वयं दत्तभगवान् ने "संहिता" कह कर इस के मंत्रस्वरूप होने का संकेत दिया है। महाराजश्री के समग्र वाङ्मय का अवलोकन करने पर ऐसा जान पडता है कि उस मे प्रतिपादित सभी सिद्धांतों का सूत्रपात द्विसाहस्री में ही हुआ है। इस से यह स्पष्ट होता है कि द्विसाहस्री ग्रंथ में महाराजश्री के सभी तत्त्वों और सिद्धांतों का संग्रह है।

रहस्य क्यूँ

इसे रहस्य क्यूँ कहा गया है इस का थोडा चिंतन करना चाहिए। इस रहस्य के अंत में महाराजश्री कहते हैं कि यह परम रहस्य है और जिस किसी को नही बताना चाहिए। **इदं रहस्यं परमं न ब्रूयात् यस्य कस्यचित्।** यदि ऐसा है तो इसकी रचना ही क्यूँ की गई। इस से यह प्रतीत होता है कि अधिकारी जिज्ञासू के मार्गदर्शन के लिए इस को अंशतः प्रकट किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी अंत में श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन से कहते हैं कि यह मैं ने तुझे गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान बता दिया है। इस से यह संकेत मिलता है कि गीता के श्लोक उस गुह्य का आवरणमात्र हैं। केवल उन के पढने से या उन का शब्दार्थ जान लेने से उस गूढ आशय का आकलन नही हो सकता। वही बात योग और बोध इन रहस्यों की भी है। एक तो अष्टांगयोग और ज्ञानयोग इन रहस्यों में सूत्ररूप से कहा गया है। अन्यथा 42 और 44 श्लोकों में इन विषयों का कथन नही हो सकता। इस से भी बडी बात यह है कि वेद, शास्त्र, पुराणादि इन ग्रंथ को समझने के लिए केवल भाषा का ज्ञान पर्याप्त नही है। जैसे कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है, यह कहे गये अर्थ या आशय उसी महात्मा की बुद्धी में प्रकाशित होते हैं जिस के मन में ईश्वर और ईश्वराभिन्न श्रीगुरु के लिए परा भक्ति है। **यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।** मात्र व्युत्पत्ति और तर्क से इन बातों को

ज्ञान पाना असंभव है। इसी लिए, यह ग्रंथ के अध्ययन के लिए अधिकारी की बात कही जाती है। अनधिकारी के लिए कितने भी विवरण के होते हुए भी यह रहस्य, रहस्य ही रह जाते हैं।

इस **रहस्य का विस्तारपूर्वक विवेचन** श्रीगुरुचरण प्रातःस्मरणीय योगीराज श्री वामनरावजी गुळवणीमहाराज ने किया है। उसी के आधार पर हम इस योगरहस्य का परिचय मात्र कराने जा रहे हैं। इस प्रवचन के सुनने से श्रोतागण में यह विवेचन के विषय में जिज्ञासा जागें यही इस का मर्यादित उद्देश्य है। योगरहस्य में कुछ परिवर्तन कर के हठयोग का अधिक विस्तारपूर्वक कथन, महाराजश्री ने श्रीदत्तपुराण के सातवें वे तथा आठवें अध्याय में किया है। इस से यह विषय महाराज को कितना महत्त्वपूर्ण लगता है इस का पता चलता है।

भूमिका

इस रहस्य की भूमिका प्रारंभिक कुछ श्लोकों में बताई है। पहले श्लोक में महाराज कहते हैं **श्रेष्ठपुंजन्मसाफल्यं कार्यं योगत्रयाश्रयात्। समाख्यातद्विसाहस्री-संहितासंग्रहस्त्वयम्॥1॥**

दो हजार श्लोकों की इस संहिता का सार बताया गया है। वह यह है कि श्रेष्ठ मानवजन्म की सफलता भक्ति, कर्म और ज्ञान इन तीन योगों के आश्रय से की जानी चाहिए। द्विसाहस्री में यह तीन योग किस प्रकार ग्रथित हैं यह बोधरहस्य के पश्चात् ग्रंथ के अंत में महाराजश्री कहते हैं। **ज्ञानं त्रयोदशाध्यायैः कर्मयोगं च पंचभिः। पंचभिर्भक्तियोगं च कारयामास योगिराट्॥** पहले तेरह अध्याय में ज्ञान, फिर पांच अध्याय में कर्म (14-18) और शेष पांच अध्याय में भक्ति का निरूपण योगीराज दत्तप्रभू ने कराया है। श्रीगुरुचरित्र की यह **त्रिकांडात्मक रचना** स्वामी महाराज का ही योगदान है। इस के अनुसार मराठी गुरुचरित्र में पर्थम 24 अध्याय ज्ञानकांड, फिर 13 अध्याय (37 तक) कर्म और 14 अध्याय भक्तिकांड माने जाते हैं।

इन तीनों की आवश्यकता क्यूँ होती है यह अगले श्लोक में स्पष्ट किया है।

भक्तिं विना न साफल्यं कर्मणः कर्मणा विना।
न च ज्ञानं विना ज्ञानान् न मोक्षो यस्य कस्यचित्॥2॥

इस में प्रमुख सिद्धांत भ.पू.पाद श्री आदिशंकराचार्यजी का **ज्ञानादेव तु कैवल्यं** यही है। स्वाभाविक ही शंका उपस्थित होती है कि यदि ज्ञान ही से मोक्ष प्राप्त होता है तो दूसरे दो योगों का निरूपण किस कारण किया गया है? इस का कारण वार्तिकसार में यह बताया गया है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए शमादि षट् संपत् की आवश्यकता है। इस को पाना केवल चित्तशुद्धि से ही संभव है। और चित्तशुद्धि का एकमात्र साधन नित्यादि विहित कर्मों का निष्काम अनुष्ठान ही है। इसी लिए यहाँ महाराजश्री कहते हैं **कर्मणा विना न च ज्ञानम्।**

कर्मयोग से चित्तशुद्धि होती है तो फिर भक्ति की क्या आवश्यकता है? तो कहते हैं **भक्तिं विना कर्मणः साफल्यं न।** भक्ति के बिना कर्म की सफलता नही होती। कर्म की सफलता चित्तशुद्धि है। उन्नीसवे अध्याय की टीका में महाराजश्री ने भक्ति की आवश्यकता क्यूँ होती है इस का विस्तार से विवेचन किया है। नित्यादि विहित कर्म यदि संपन्न हो भी जाएँ, वे तब तक निष्काम नही हो सकते जब तक वे ईश्वरार्पण बुद्धी से नही होते। परमेश्वर के प्रीति के उद्देश्य से किया गया कर्म ही निष्काम हो सकता है। यही तो व्याख्या भक्ति की भी है। **सा तु अस्मिन् परमप्रेमस्वरूपा।** इस से यह स्पष्ट होता है कि कर्म भक्ति के सहित होना चाहिए। इस कारण से यह तीनों योगों का प्रतिपादन द्विसाहस्री में किया है।

इस के बाद योग का प्रयोजन स्पष्ट करते हैं।

न ज्ञानं जीवति प्राणे मनस्यपि, लयं नयेत।
यस्तौ, गच्छति मोक्षं स योगी, नान्यः कथचन॥3॥

प्राण और मन के जीवित रहते (आत्म)ज्ञान नही होता। इन दोनों का लय करनेवाला योगी ही मोक्ष पाता है, दूसरा कोई भी नही। बाईं नासिका से चलने वाली इडा और दाहिनी नासिका से चलने वाली पिंगला इन दो नाडियों में प्रवाहित होना ही प्राण का जीवन है। निरंतर संकल्प और विकल्पद्वारा अनेक विषयाकार वृत्तियों

का निर्माण ही मन का जीवन है। उसी तरह अपने अपने विषयों का ग्रहण इंद्रियो का जीवन है। श्वासोच्छ्वास जब पूरी तरह रुक जाएगा और उस के साथ मन निर्विचार हो जाएगा तब ही आत्मज्ञानरूपी मोक्ष की सिद्धि होती है। सामान्यतः यह तो जीते जी संभव नही लगता। परंतु यहाँ महाराजश्री योगशास्त्र का एक सिद्धांत बता रहे हैं जिस का अनुभव वे कर चुके हैं। और भी अनगिनत महात्माओं ने इस योगशास्त्र के अनुष्ठानद्वारा इस सत्य की पुष्टि अपने अनुभव से की है। इसी अनुभूती को योग का परम साध्य बताया गया है। हठयोगप्रदीपिका, योगतारावली, ज्ञानेश्वरी जैसे सहस्रावधी सिद्ध ग्रंथों में, उपनिषदों में एवं पतंजलिप्रणीत योगशास्त्र में यही योगसिद्धी का लक्षण बताया गया है। आज भी इस अवस्था को प्राप्त करने-करानेवाले महात्मा इस पवित्र भारतभूमी में विद्यमान हैं।

मन और प्राण एक दूसरे से जुडे हुए हैं। प्राण चलता है तो मन भी चंचल हो जाता है। वैसे ही प्राण स्थिर होता है तो मन भी ठहर जाता है।

चले प्राणे चलं चित्तं निश्चले निश्चलं तयोः। नष्ट एकतरे नाशो द्वयोरपि, स योगतः।।4।। दोनों में से एक का नाश हो गया तो दोनो का नाश होता है। यह योग से ही संभव है। यही बात भगवान श्रीकृष्ण गीता में इस प्रकार कहते हैं। **युञ्जन्नेव सदात्मानं योगी नियतमानसः। शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।6-15।।** ब्रह्मानंदजी ने हठयोगप्रदीपिका की टीका में मोक्ष के लिए योग की आवश्यकता का प्रतिपादन करने वाले श्रुति. स्मृति, पुराण आदि के बहुत से अवतरण उद्धृत किए हैं। जिज्ञासू सज्जन उसे मूल ग्रंथ में देख सकते हैं। यहाँ योग शब्द से महाराजश्री को अष्टांगयोग अभिप्रेत है।

अष्टांगयोग में ज्ञान, कर्म और भक्ति अनुस्यूत हैं।

आरंभ में मोक्षप्राप्ती के लिए भक्ति, कर्म तथा ज्ञान की आवश्यकता कही गई। फिर यह अष्टांगयोग कहाँ से आ गया? इस आशंका का समाधान पांचवें श्लोक में किया गया है। **भक्तिक्रियाज्ञानयोगान्मुक्तिरुक्तापि तत् त्रयम्। ज्ञेयं साष्टांगयोगांतर्गतं द्वैधमतोत्र नो।।5।।** महाराजश्री का कहना है कि भक्ति, कर्म और ज्ञान इन तीनों का अंतर्भाव अष्टांगयोग में होता है। इस तरह से विरोध की कोई बात ही नही रहती। यह तो सूत्ररूप से महाराजश्री ने बता दिया। परंतु इस का विस्तार से स्पष्टीकरण हठयोगप्रदीपिका की टीका में ब्रह्मानंदजी ने किया है। यहाँ उसे संक्षप से देखते हैं।

योग के आठ अंग ये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इस में समाधि दो प्रकार की है, संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात समाधि योग आठवा अंग है तथा असंप्रज्ञात समाधि अंगी अर्थात् योग है।

पहले ज्ञानमार्ग का विचार करते हैं। ज्ञानमार्ग के मुख्य साधन हैं, **श्रवण, मनन और निदिध्यासन**। इन में से श्रवण और मनन अष्टांगयोग के नियम स्वाध्याय में निहित है। **शौच-संतोष-तप-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।** सिद्धांत तथा वेदांत के **श्रवण** से ही तात्पर्यार्थ का निर्णय होता है। यही **स्वाध्याय** है। मोक्षशास्त्र का अध्ययन तथा तात्पर्यार्थ की निश्चिति के लिये उस का **चिंतन** यह **स्वाध्याय** ही का अंग है। इसी प्रकार विजातीय प्रत्यय के निरोध के साथ सजातीय प्रत्यय मे चित्त प्रवाहित करते हुए उस को ध्येयाकार करना **निदिध्यासन** है। यही अष्टांगयोग का सातवा अंग **ध्यान** होता है।

तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान इन तीनों को मिला कर पतंजलि क्रियायोग कहते है। **तपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।** इस में कर्म तथा भक्ति इन दोनों का समावेश होता है। **तप** का अर्थ है उपवास, कृच्छ्र, चांद्रायणादि से शरीर का शोषण। **ईश्वरप्रणिधान** श्रवण, कीर्तन आदि नवविध **करणभक्ति** या **साधनभक्ति** का ही नाम है। इस का फल योगशास्त्र में समाधी की सिद्धि बताया गया है। **समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।** अर्थात् पतंजलिप्रणीत क्रियायोग में ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों का अंतर्भाव होता है। भक्तिशास्त्र में साधनभक्ति के साथ **फलरूप भक्ति** का भी प्रतिपादन है। नारायणतीर्थजी

ईश्वरचरणकमलों में अनन्य उत्कट प्रेमप्रवाह को फलभक्ति या परा भक्ति कहते हैं। अन्य भक्तिशास्त्र के आचार्य मधुसूदन सरस्वती इस की व्याख्या **प्रेम से द्रवीभूत चित्त ईश्वराकार होना** ऐसी करते है। दोनों ही व्याख्याएँ **सविकल्प समाधि** के लक्षणों से मिलती हैं। अर्थात् जहाँ **साधनभक्ति क्रियायोग** में निहित है वहाँ **परा भक्ति सविकल्प समाधि** का ही रूप है। इस तरह से कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों उपायों अष्टांग योग में समाविष्ट हैं।

यहाँ एक बात जानना आवश्य है कि का इस सिद्धांत से महाराजश्री **योग का एकांतिक समर्थन नही** करते है। शेष सब साधन छोड कर केवल अष्टांगयोग का ही आश्रय करने को महाराज नही कहते हैं। महाराज के कहने का आशय यह है कि योग के साधकों को भी भक्ति, कर्म तथा ज्ञान का अभ्यास नितांत आवश्यक है। उसी प्रकार भक्ति, कर्म या ज्ञान में से किसी एक का अनुष्ठान शेष दो मार्गों के विना नही हो सकता। इसी लिए महाराजश्री द्विसाहस्री के 19वे अध्याय के आरंभ में कहते हैं, **त्रिभिर्योगपथैरेव परस्परसहायकैः। ब्रह्माद्वंद्वं समं शांतं गम्यते नैकयोगतः।।3।।** यह तीन मार्गों को मिला कर ही योग अर्थात् अष्टांगयोग होता है ऐसी श्रीमहाराज की मान्यता है।

जीवनशैली

पाँच श्लोकों में भूमिका विशद करने के बाद अब अष्टांगयोग का निरूपण आरंभ करते हैं। अगले चार श्लोकों का विषय केवल योग के अभ्यासकों के लिए ही नही तो सभी कल्याणकामी जनों के लिए उपयुक्त हैं। **नात्यश्नतोऽनश्नतोऽतिसुप्तस्यैष न जाग्रतः। युक्तचेष्टाहारनिद्रागतेर्योगो भवेत्सुखः।** यह गीता के '**युक्ताहारविहारस्य**' इत्यादि श्लोक का अनुवाद है। जिसे योगाभ्यास करना है उस की जीवनशैली कैसी हो इस का दिग्दर्शन यहाँ किया है। आहार, निद्रा, गति और चेष्टा इन चारों का संतुलन शरीर के स्वस्थ और कार्यक्षम रखने के लिए बहुत आवश्यक हैं।

आहार

आधुनिक आरोग्यशास्त्री भी अब इन के संतुलन का महत्त्व जान चुके हैं। किंतु यहाँ आधुनिक आहारशास्त्र की मर्यादाओं को जानना आवश्यक है। आधुनिक आहारशास्त्र केवल स्थूल या अन्नमय कोश का ही विचार करता है। प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोशों का उसे ज्ञान तक नही है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानने से, मानव देह के इन कोशों का उसे आकलन नही है। योगाभ्यासी के लिए अन्नमय कोश से भी इन कोशों के विकास पर अधिक ध्यान देना आवश्यक है। अन्न से केवल रसपुष्टि हो जाएँ तो वह साधक के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है। मन भी तो अन्न से ही बनता है। हमारे शास्त्रों में तो शरीर के शोषण को तप माना है। हर व्यक्ति के लिए एक ही प्रकार का आहार युक्त नही होता। इसी लिए भारतीय शास्त्रों ने वर्णाश्रम का विधान किया है। आहार के विषय में स्मृतिकार बताते है – **अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः षोडशारण्यवासिनः। द्वात्रिंशत्तु गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्।।** यह वचन केवल दिशा दिखाता है। हर एक साधक को अपना अपना आहार विचारपूर्वक निश्चित करना है। जिस से शरीर नित्यकर्मों के लिए दृढ और शक्त हो, परंतु उस में आलस्य का प्रादुर्भाव न हों वही आहार युक्त है। शास्त्रों का कहना है कि आधा पेट अन्न से और चौथाई पानी से भरना चाहिए। चौथा हिस्सा वायुसंचलन ते लिए खाली छोडना चाहिए।

निद्रा

जो बात आहार की है वही निद्रा की भी है। निद्रा और आहार एक दूसरे से जुडे हुए हैं। अधिक निद्रा भूख बढाती है और आहार बढने से निद्रा अधिक आती है। **गति** अर्थात् चलना, घूमना-फिरना मर्यादित होना चाहिए। आजकल स्वयंचलित वाहनों के युग में यह वैसे भी बहुत कम हो गया है। और थोडा बहुत तो चलना आवश्यक होने की बात पर बल दिया जा रहा है। इसी तरह जीवनयापन के लिए आवश्यक उतना ही शारीरिक या मानसिक काम करना चाहिए। इस से योग सुखकर होता है। **अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।**

जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति। उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्वज्ञानाच्च निश्चयात्। जनसंगपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति।।(हठयोगप्रदीपिका)

त्याज्य और सेव्य

अगले श्लोक में आहारादि में त्याज्य और सेव्य क्या है यह बताते हैं। **क्षाराम्लतिक्तकटुरुक्षकदन्नशाकस्त्र्यग्नध्वभाङ् न लभतेऽकुशलभतेऽकुशलोऽस्य सिद्धिम्। शुंठीसितासुमनशालिसदन्नमुद्गचक्षुष्यशाकघृतदुग्धसदम्बु पथ्यम्।।8।।** खारी, खट्टी, कडवी और तीखी चीजें, रूखासूखा खाद्य (उदा. जवार, उडद आदि), सब्जी इन का प्रयोग खाने में करने से तथा अतिरिक्त कामसेवन, अग्निसंपर्क व यात्रा करने से तथा अभ्यास में कुशल न होने से इस योग की सिद्धि नही होती। योग की सिद्धि में पथ्यकारक चीजें हैं अद्रक, शक्कर, गेहूँ, चाँवल, वरई, मूँग और चक्षुष्य सब्जी (उदा.जीवन्ती, वस्तु-हेतुया, मत्स्याक्षी (छछमछरी), चवराई, पुनर्नवा(करला), घी, दूध और शुद्ध पानी।

स्थान

इस प्रकार अनुशासित साधक को योगाभ्यास किस स्थान पर करना चाहिए यह बताते हैं। **सद्देशे मठिकामध्ये निश्चिन्तो गुरुशिक्षितः। कुशाजिनांशुकेष्वेव हठयोगं समभ्यसेत्।।9।। सद्देशे** का आशय हठयोगप्रदीपिका में ऐसा कहा गया है। **सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे। धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजड(ल)वर्जिते।। एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना।** जहाँ अच्छा शासन है, लोग धार्मिक हैं, शुचि भिक्षा जहाँ मिलती है. स्वपरचक्र, लुटेरे आदि उपद्रवों से रहित, एक धनुष्य तक जहाँ शिला, अग्नि और कठिन भूमी (जल) न हों ऐसे देश में छोटी सी कुटियाँ बनानी चाहिए। उस में **गुरु के मार्गदर्शन** से हठयोग का अभ्यास करना चाहिये। पुस्तकें पढ कर, अपनी बुद्धी से अभ्यास करने में खतरा है।

हठयोग

यहाँ अष्टांगयोग न कहते हुए स्वामीमहाराज **हठयोग** शब्द का प्रयोग करते हैं। इस पर टीका में महाराजश्री कहते हैं – **'हकार उच्यते सूर्यष्ठकारश्चंद्र उच्यत' इति तयोः प्राणापानयोर्योगः हठयोगः।** ह का अर्थ सूर्य अर्थात् प्राण है तथा ठ का अर्थ चंद्र अर्थात् अपान होता है। इन प्राण और अपान का योग ही **हठयोग** कहलाता है। **गीता** को चौथे अध्याय में '**अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे**' ऐसा वर्णन हठयोग का ही है। इन दोनो का योग करने से प्राण पश्चिममार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाडी में प्रवेश करता है। इसी को कुंडलिनी शक्ति का जागरण कहा जाता है। आगे 32 वे श्लोक तक महाराजश्री हठयोग संक्षेप में बताते हैं। यह सूत्ररूप दिग्दर्शन मात्र है। इस का अनुष्ठान करने के लिए सिद्ध गुरू का मार्गदर्शन एवं सान्निध्य अनिवार्य है।

आसन

आरंभ में 10वें श्लोक में आसन निरूपित है।

गुदमेण्ढ्रोर्ध्वस्थगुल्फमासीनो यतगुः समः। भ्रूमध्यदृग्वाऽन्यपीठैः सिद्धं तत्राऽप्यदोऽस्ति सत्।।

एक एडी गुदद्वार के ऊपर और दूसरी वृषण के ऊपर रख कर, इंद्रियों को संयमित कर के भ्रूमध्य में दृष्टि रखने से सिद्ध नाम का आसन होता है। और भी आसन कर सकते हैं पर यह अच्छा है। यहाँ महाराजश्री ने एक ही आसन का वर्णन किया है। हठयोगप्रदीपिका में भी कहा है कि एक सिद्धासन ही दृढता से सिद्ध होने से अनायास तीनों बंध लग जाते हैं और उन्मनी कला अपने आप प्रकट होती है। **उत्पद्यते अनायासात् स्वयमेवोन्मनीकला। तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति। बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते।।1:42।।** दत्तपुराण (7:8-12) में स्वस्तिक, पद्म, सिंह, मयूर, भद्र आदि

आसनों का वर्णन किया है। आगे कहा गया है कि आसनजय से सर्वजय हो जाता है। इन में से कोई भी आसन करने की शक्ति न हों तो शवासन करने के लिये कहा है।

प्राणायाम

अगले तीन श्लोकों से प्राणायाम संक्षिप्त वर्णन करते हैं।

वायुं शक्त्येडयाऽऽपूर्य हृदि स्थाप्य हनुं जपन्। हंसं शक्त्या कुंभयित्वा पश्चादाकर्षितोदरः।।
शनैर्विरयचेदेष प्राणायामः सुसिद्धिदः। पंचर्ध्याह्न्यह्न्यशीत्यंत्यैः प्रतिसंध्यसुयामकैः।।12।।

अपनी शक्ती के अनसार वायु को इडाद्वारा पूरण कर के शक्त्यनुसार कुंभक करना चाहिए। कुंभक करते समय हनु सीने को (**जालंधर बंध**) लगा कर गायत्री या सोऽहं का जप करना चाहिए। अर्थात् यह प्राणायाम **सबीज** होता है। कुंभक के बाद पेट अंदर खींच कर (**उड्डियान बंध**) धीरे धीरे पिंगला नाडी से वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्राणायाम से उत्तम प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है। यहाँ तीसरा **मुलबंध** उपलक्षित जानना चाहिए। इस प्रकार के तीन बंधों सहित प्राणायाम दिन में तीन संध्याकाल में करने चाहिएँ। उन की की संख्या प्रतिदिन पांच से बढा कर अस्सी करने को कहा है। हठयोगप्रदीपिका के अनुसार ये तीन संध्याकाल के अतिरिक्त मध्यरात्री में भी प्राणायाम करना चाहिए। द्वादश मात्रा का प्राणायाम कनिष्ठ, चौबीस मात्रा का मध्यम और छत्तीस मात्रा का उत्तम माना गया है। निद्रावस्था के श्वासोछ्वास के काल की एक मात्रा समझी जाती है।

नाडीशुद्धि

गंतव्यमार्गस्थशक्तिचालनाद्भस्रया भवेत्। नाडीशुद्धिस्त्रिमासोर्ध्वं प्राणो याति लयं सहृत्।।13।।

ऊपर बताए हुये प्राणायम, भस्त्रिका से तथा इष्ट मार्ग में शक्ति चालन करने से तीन महीनों में नाडीशुद्धि हो कर प्राण और मन दोनों का लय होता है ऐसा महाराजश्री का कहना है। भस्त्रिका और शक्तिचालन का वर्णन आगे आता है। प्रतिदिन त्रिकाल 80 प्राणायाम करने से तीन महीने में **21600** प्राणायाम होते हैं। अर्थात् हमारे एक दिन के श्वासोछ्वास की संख्या पूरी होती है। यह प्राणायाम का एक **पुरश्चरण** हो जाता है।

प्राण और अपान की एकता होने से वह्निमंडल में अग्नि प्रदीप्त होता है। उसी से संतप्त हो कर सोई हुई कुंडलिनी जग जाती है और सीधी हो कर ब्रह्मनाडी में प्रवेश करती है। यह सब वर्णन हठयोगप्रदीपिका में विस्तार से देखने में आता है। शक्ति का चालन सुषुम्णा में करने से वह धीरे धीरे मध्यममार्ग को शुद्ध करते हुए तालू में ब्रह्मरंध्र में प्रविष्ट होती है।

लीनः सपंचविपलद्विपलं सोऽसुयामकः। ब्रह्मरंध्रे वर्धमानः प्रत्याहारादयः स तु।।14।।
स्वकालद्वादशगुणोत्तरकालावधिः स्मृतः। समाधिर्द्वादशदिनसाध्यः परमदुर्लभः।।15।।

ब्रह्मरंध्र में दो पल और पांच विपल (**50 सेकंद**) तक जब प्राण लीन होता है तो **प्राणायाम** सिद्ध हुआ माना जाता है। यही काल बढ कर पचीस पल (**10 मिनट**) प्राण के लीन होने से **प्रत्याहार**, पांच घटी (**दो घंटे**) होने से **धारणा**, 60 घटी अर्थात् **एक अहोरात्र** होने से **ध्यान**, और 12 **दिन** होने से **समाधि**, सिद्ध होते हैं। यह द्वादश दिन का समाधि बहुत दुर्लभ है। योग के पाँच अंगों की यह व्याख्या स्कंदपुराण में पायी जाती है। हठयोगप्रदीपिका की टीका में ब्रह्मानंद भी इसे दोहराते हैं।

भस्त्रिका प्राणायाम

आगे चार श्लोकों में महाराजश्री भस्त्रिका प्राणायाम का वर्णन करते हैं।

समासीनो यतास्योऽन्तः प्राणं दक्षिणया त्यजेत्। सारं लगति हृत्कंठकपोलावध्यसौ यथा।।1
लोहकारस्य भस्रावच्छक्त्याश्वापूर्य रेचयेत्। वामां मध्यानामिकाभ्यां धृत्वा जाते श्रमे विधेः।।
पीत्वा प्राणं कुम्भयित्वा धृत्वांगुष्ठेन दक्षिणम्। वामया रेचयेन्मंदं तथाऽथ प्राग्वदाचरेत्।।18।।
द्विनाड्यभ्यासाद्यामार्धं शक्तिर्मार्गं ददात्यरम्। भस्रेयं सर्वदोषघ्नी रुक्पापघ्न्यपि सिद्धिदा।।19।।

हठयोगप्रदीपिका में आठ प्रकार ते कुंभक बताये हैं। **सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनीत्यष्ट कुंभकाः।।** महाराजश्री ने यहाँ भस्त्रिका का ही वर्णन विशेष स्वरूप से

किया है। यह प्राणायाम दोनों नाडीयों से प्रतिदिन अर्धप्रहर (डेढ घंटा) करने से शक्ति शीघ्र मार्ग देती है। यह भस्रिका वात, पित्त, कफ दोषों का, व्याधियों का तथा पापों का नाश कर के सिद्धि प्राप्त करानेवाली है।

शक्तिचालन

आगे शक्तिचालन का विधि स्पष्ट किया है।

शिश्ननाभ्यंतस्थकंदं सति वज्रासने पदौ। धृत्वा दृढं प्रपीड्यारं भस्रां सिद्धासनस्थितः।।20।।
समाकुंचितनाभिर्द्राक्कुर्याच्छक्तिश्चलत्यतः। यामार्धाभ्यासतो धैर्यान्मध्यनाड्यां समुद्गता।।21।।
ऊर्ध्वाकृष्टा भवेत्किंचिच्छक्तिर्नाडीमुखं त्यजेत्। ततः स्वतो व्रजत्यूर्ध्वं प्राणोऽतस्तां विचालयेत्।।
चालनात्सर्वसिद्ध्याप्तिर्मंडलाद्योगिनो न तु। रुग्भ्यो भयं यमाच्चापि नेतोऽन्यन्नाडिशोधनम्।।

इन श्लोकों में लिंग और नाभी के बींच स्थित कंद का वज्रासन में बैठ कर पैरों से ताडन करने को कहा है। उसके पश्चात् सिद्धासन पर बैठ कर नाभी के आकुंचन के साथ द्रुत गती से भस्रा करने से शक्ति का चालन होता है। अर्धप्रहर तक यह अभ्यास करने से सुषुम्ना में प्रविष्ट कुंडलिनी शक्ति ऊपर की ओर खींची जाती है और वह नाडी का मुख खोल देती है। इस से प्राणवायु अपने आप ऊपर उठ कर ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करता है। इस लिए शक्ति को चलाना चाहिए। शक्तिचालन से योगी चालीस दिन में सभी सिद्धियों की प्राप्ति कर लेता है। ऐसे योगी को रोगों से या यम से तक भय नही रहता। शक्तिचालन जैसा नाडीशुद्धि का कोई अन्य साधन नही है।

हठयोगप्रदीपिका में दस मुद्राओं का उल्लेख है।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी। उड्ड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः।।
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्। इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकम्।।

इन में तीन बंध और शक्तिचालन अब तक हम देख चुके हैं। आगे खेचरी और विपरीतकरणी का वर्णन आता है।

खेचरी मुद्रा

इस तरह से शक्ति को गतिशील करने के पश्चात् प्राणवायु सुख से सहस्रार का भेद करते हुए सभी सिद्धियाँ और राजयोग की प्राप्ति कराएँ इस के लिये खेचरी मुद्रा का विधान करते हैं।

चालितायामपि प्राणो बद्धा चेद्रसना सुखम्। व्रजत्यूर्ध्वं सिद्धिपूर्वं राजयोगपदप्रदम्।।24।।
जिह्वां मूलशिरां छित्वा रोममात्रं प्रघर्षयेत्। पथ्यासैंधवचूर्णैर्गां प्राग्वत्सप्तदिनैर्मुहुः।।25।।
षण्मासादिति जिह्वाधः शिराबंधो विनश्यति। मुद्रा स्यात् खेचरी त्र्यध्वे योजिताऽवाङ्मुखी कला।।

इन श्लोकों में जिह्वाछेदन की कृति समझाई है। बहुत ही सावधानी से हफ्ते में एक दिन, जीह के मूल की शिरा का रोममात्र छेदन करने को और उस जगह पथ्या (हिरडा) और सैंधव (शेंदीलोण) से मर्दन करने को कहा है। इस से छह मास में जिह्वा को नीचे बांधनेवाली शिरा नष्ट हो जाती है। इस के बाद जिह्वा उलटे घुमा कर तालू के ऊपर के छिद्र में, जहाँ तीन नाडियाँ मिलती हैं, दालना है। इस में जिह्वा के चालन तथा दोहन से इतनी लम्बी करना है, जिस से वह भ्रूमध्य तक पहुँच सकें।

खेचरी मुद्रा का फल

सहृज्जिह्वा चरत्यस्य खे कदापि स्पृशन्ति नो। विषार्तिरुग्जरा क्षुत्तृण्निद्रा तंद्रामृतिक्रियाः।।
स्त्र्याश्लेषितस्यापि बिन्दुर्न क्षरत्यूर्ध्वमेति सः। चलितश्चेद्योनिमुद्राबद्धो मुक्तः स भोग्यपि।28।

अब खेचरी मुद्रा का फल कहते हैं। जिह्वा जब भ्रूमध्य में प्रवेश करती है तब योगी का चित्त भी वहाँ के आकाश में अर्थात् आज्ञाचक्र में स्थिर हो जाता है। उस को विष की बाधा नही होती। ना ही उसे भूख, प्यास, नींद, मृत्यु आदि छूते हैं। वह ऊर्ध्वरेता हो जाता है। स्त्रीसंपर्क से भी उस के वीर्य का स्खलन नही होता। कभी हुआ भी तो **योनिमुद्रा** से बांध कर वह वीर्य को ऊपर खींच कर योनिमंडल में स्थित रज से मिला कर उस का ओज में रूपांतर करता है। ऐसा योगी, जिस ने योनि(वज्रोली)मुद्रा सिद्ध की है, भोगी हो कर भी मुक्त होता है। यहाँ वज्रोली मुद्रा का निर्देश और फल कहा है। उस का वर्णन नही किया है।

विपरीतकरणी मुद्रा

अगले दो श्लोकों में विपरीतकरणी मुद्रा की कृति और फल संक्षप में कहा है।

सुधान्तःस्रवतीन्दोस्तां ग्रसत्यर्कस्ततो जरा। अधःशीर्षोर्ध्वपात्तिष्ठेद्वह्वाहारः शनैः शनैः।।29।।

याममात्रं ततः सिद्धिर्व्यस्तेयं करणीष्टदा। वलीपलितवेपघ्नी मृत्युहर्त्री सुधाप्रदा।।30।।

तालूमूल में स्थित चंद्रमा से अमृतस्राव होता है। परंतु नाभि में स्थित सूर्य उसे खा जाता है। यही बुढापे का कारण है। ऊपर बताई गई खेचरी मुद्रा से इस अमृत का पान योगी कर सकता है। इसी अमृत को सूर्य से बचा कर उस का पान करने के लिए एक और मुद्रा का हठयोग में विधान है। कांधे से नीचे का पूरा शरीर हाथों से ऊपर उठा कर सिर नीचे रखने से सूर्य ऊपर हो जाता है और चंद्रमा नीचे। इस से अमृत बचा रहता है और बुढापा रुक जाता है। इसे आरंभ में एक क्षण तक करना चाहिए और धीरे धीरे बढाना चाहिए। एक प्रहर तक इस का अभ्यास करने से विपरीतकरणी सिद्ध हो जाती है। इस मुद्रा के अभ्यास के समय आहार अधिक करना आवश्यक है। अमृत की प्राप्ति करानेवाली यह विपरीतकरणी शरीर की झूरियाँ, कंप और गंजापन मिटाती है तथा मृत्यू से भी बचाती है।

हठयोगसिद्धि के लक्षण

यहाँ पर हठयोग का निरूपण पूरा होता है। हठयोग सिद्ध होने के लक्षण अब महाराज एक श्लोक में कहते हैं।

स्वास्येऽग्नौ दीप्तेऽङ्गसादे नाडीशुद्धावनामये। नादस्फुटत्वे सुदृष्ट्याः सिद्धिर्बिंदौ जिते सति।।

कांतियुक्त मुख, जठराग्नि का प्रदीपन, शरीर का कार्श्य, नाडियों की शुद्धि, निरोगता, अनाहत नाद का प्राकट्य, निर्दोष दृष्टी और बिंदु का जय यह **आठ लक्षण** हठयोग की सिद्धि के माने गये हैं। इन में नाडीशुद्धि मुख्य है। शेष सब लक्षण उस के परिणामस्वरूप हैं।

योगसिद्धि में बाधाएँ

इस योग की सिद्धि में अनेकानेक बाधाएँ होती हैं। भगवान श्रीकृष्ण का वचन है कि **अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।** अर्थात् योग का मार्ग बहुत ही लंबा है। उस का क्रमण करते करते अनेकानेक जन्म बीत जाते हैं। पिछले अनगिनत जन्मों के संचित कर्म योग के द्वारा नष्ट करने होते हैं। इन कर्मों के आशय में ही योग के विघ्नों के बींज होते हैं। इस लिए महाराजश्री कहते हैं,

विविधा उपसर्गाः प्राक्संभवत्यत्र योगिनः। सदुगुरोर्दृढभक्त्या ते प्रणश्यन्ति न चान्यथा।।32।।

इन बाधाओं के अनेक वर्णन शास्त्रों में पाए जाते हैं। पतंजली महर्षी के सूत्र में व्याधि स्त्यान, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व आदि अंतरायों का निर्देश आता है। विविध प्रकार की सिद्धियाँ भी योगी के पतन का कारण होने से विघ्नरूप ही हैं। महाराजश्री की मान्यता से इन सब से बच निकले का एक ही उपाय है। वह है ईश्वराभिन्न सद्गुरु के चरणों में दृढ भक्ति। दूसरा कोई उपाय इन विघ्नों का नाश करने में उपयोगी नही होता।

सिद्धि के उपरान्त योगी का कर्तव्य

इस तरह से हठयोग की सिद्धि होने के पश्चात् योगी का क्या कर्तव्य है वह 33 वें श्लोक में स्प्ष्ट किया है।

कारण कर्मारुरुक्षोर्योगिनो योगमुत्तमम्। शमः कारणमस्याग्रे योगारूढस्य योगिनः।।33।।

यह भगवद्गीता के छठे अध्याय के तीसरे श्लोक का अनुवाद है। हठयोग को कर्मयोग का ही अंग इस श्लोक से माना गया है। योग में आरूढ होने के लिये इस की आवश्यकता है। जब हठयोग की सिद्धि पा कर वह धारणा-ध्यान-समाधिरूप राजयोग की प्राप्ति करता है तो उसे कर्मों से निवृत्त हो कर – संन्यास ले कर, ज्ञानयोग का साधन करना है ऐसा भगवत्पाद शंकराचार्य का मानना है। उसी की पुष्टि महाराजश्री यहाँ करते हैं।

प्रत्याहार

34 वें श्लोक से राजयोग का प्रतिपादन आरंभ होता है। पहले प्रत्याहार के लक्षण बताए गये हैं। श्रोत्रादि पांच इंद्रियों को अपने अपने विषयों से खींच कर चित्त अंतर्मुख करने को प्रत्याहार कहते हैं। अगले श्लोक में **अंतर्दृक्** शब्द से इसी का निर्देश महाराजश्री करते हैं। इसी को कठोपनिषत् में आवृत्तचक्षु कहा है। दृक् या चक्षु यह पांचों इंद्रेयों का उपलक्षण है।

कामवेगसहोऽन्तर्दृक् सुखारामोऽभितो यतिः। ब्रह्मनिर्वाणमेत्येव ब्रह्मभूतोऽमलः समः।।34।।

काम का वेग सहना प्रत्याहार का फल ही है। **शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।5-23।।** केवल अतींद्रिय बुद्धिग्राह्य सुख में ही जो मगन है वह **सुखाराम** कहलाता है। **सुखमात्यंतिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।6-21।।** ऐसा **यति** अर्थात् संन्यासी **सम** द्वंद्वातीत हो कर ब्रह्मस्वरूप हो कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। गृहस्थ के लिए यह स्थिति दुष्प्राप्य है ऐसा यहाँ सूचित किया है।

कश्चिद्धारणयोपास्ते ध्यानात्कश्चित्समाधिना। आत्मानमेवमास्वेमां सिद्धिं मुक्तो भवत्यसौ।।35।।

कोई धारणा से , कोई ध्यान से और कोई समाधी से आत्मा की उपासना ते हैं। इस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर के वे मुक्त हो जाते हैं। आगे के तीन श्लोकों में इन तीनों का कथन है।

हृद्युपास्यो धारणया वराभयकरो हरिः। प्रादेशमात्रः सुसिद्धः खेचरीमुद्रया युतः।।36।।

पतंजलि का सूत्र है, **देशबंधश्चित्तस्य धारणा।** चित्त को वृत्तीद्वारा एक देश में बांधे रखना ही धारणा है। यह देश बाह्य या आंतर हो सकते हैं। गरुडपुराण में यह देश दस कहे गये हैं। नाभी, हृदय, सीना, कंठ, मुख, नेत्र, भ्रूमध्य, मूर्ध्नि (सिर) और थोडे उस के ऊपर। इन देशों में चित्त एकाग्र करने से धारणा होती है। विष्णुपुराण के अनुसार धारणा भगवान् के सगुण रूप में भी हो सकती है।

मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिःस्पृहम्। एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते।।

महाराजश्री यहाँ हृदय देश में, अष्टदल अनाहत चक्र में, संसारतापहर भगवान दत्तात्रेय के स्वरूप पर चित्त टिकाने को कहते हैं। प्रादेशमात्र ऊँचे प्रभुजी, वर तथा अभय मुद्रा धारण किए दो हाथ हैं। इन श्रेष्ठ सिद्ध भगवान ने खेचरी मुद्रा बांधी है। इस रूप में चित्त इतना निबद्ध हो जाना चाहिए कि संसार के कार्य करते हुए भी वहां से ना हिलें। धारणा की व्याख्या है, ऐसी विषयाकार वृत्ती जिस में व्यवधान तो आते हैं, अन्य वृत्तियाँ भी आती जाती हैं, परंतु **विच्छिन्न** रूप से ही सही, **ध्येयाकार वृत्ती** बनी रहती है।

ध्यान

अगुष्ठमात्रं पुरुषं दत्तात्रेयं दिगंबरम्। ध्यायेत्सिद्धासनासीनं द्युनिशं कंठसंस्थितम्।।37।।

धारणा ही परिपक्व हो कर ध्यान में परिणत होती है। **तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।** इस सूत्र के अनुसार ध्येयाकार चित्तवृत्ती का अविच्छिन्न रूप ध्यान कहलाता है। इस में व्यवधान का सर्वथा अभाव होता है तथा अन्य वृत्तियाँ उदित नही होतीं। ध्यान में मैं ध्याता हूँ, ध्यान का विषय ध्येय है, और मैं उस का ध्यान करता हूँ यह भान योगी को होता है। अर्थात् ध्येय, ध्याता और ध्यान यह त्रिपुटी बनी रहती है। महाराजश्री यहाँ ध्यान का देश कंठ बताते हैं। सिद्धासन में बैठ कर **दिगंबर दत्तात्रेय की अंगुष्ठमात्र मूर्ति का** ध्यान करने को वे कहते हैं। एक दिन और एक रात तक स्थिर होने पर ध्यान सिद्ध हो जाता है। टीका में महाराजश्री ध्यान को उपसमाधि कहते हैं।

समाधि

सहस्रदलपद्मस्थं सुसूक्ष्मं शांतमुज्ज्वलम्। समाधिना द्वादशाऽहं तन्मयो भावयेत्परम्।।38।।

ध्यान इतना प्रगाढ हो जाएँ कि उस का विस्मरण हो तो वह समाधि कहलाता है। **तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।** जब केवल अर्थ अर्थात् ध्येय मात्र का भान रह जाता है

तब ध्यान का स्वरूप शून्य हो जाता है। वही समाधि कहलाता है। इस में ध्याता को अपनी और ध्यान की भी विस्मृति हो जाती है और ध्येयमात्र का भान होता है। ध्याता ध्येय में लीन हो जाता है। सहस्रदल कमल में, प्रशांत, सूक्ष्मतर, तेजोरूप भगवत्स्वरूप से तद्रूप होना ही समाधि है। बारह दिन तक स्थिर होने से समाधि सिद्ध होती है। इस से योगी सभी शस्त्रों से अवध्य, सभी मंत्र तथा यंत्रों को अग्राह्य तथा सभी प्राणियों के परे और मुक्त हो जाता है। **अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम्। अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी मुक्तः समाधिना।।**

शांभवी मुद्रा और उन्मनी अवस्था

अन्तर्लीनसहृत्प्राणोऽपश्यन्नचलदृग्बहिः। मुद्रेऽयं शांभवी शून्याऽशून्यलक्ष्मपदप्रदा।।39।।

प्राण और मन अंतराकाश में लीन हो गये हैं, खुली आँखें निमेषोन्मेषरहित बाहर टिकी हैं। शं=सुख भुवति होता है जिस से वह शंभू अर्थात् आत्मा है। उस की मुद्रा, *मुद्* अर्थात् निर्विकल्पानंद *राति* अर्थात् प्राप्ति कराती है वह मुद्रा। देहादि से शून्य अर्थात् उपाधिरहित परंतु निषेध से भी जो परे है ऐसा अशून्य। यह दोनों जिस के लक्षण हैं उस वैष्णवाख्य पद को प्राप्त करानेवाली यह मुद्रा महाराजश्री बता रहे हैं। इसी का वर्णन योगतारावली में 17वे श्लोक में भगवत्पाद करते हैं। **नेत्रे ययोन्मेषनिमेषशून्ये वायुर्यया वर्जितरेचपूरः। मनश्च संकल्पविकल्पशून्यं मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम्।।17।।** यहाँ इस को मनोन्मनी और आगे 21 वे श्लोक में अमनस्कमुद्रा कहा है।

नादानुसंधान

तद्वान् दृढासनो दक्षकर्णे रुद्धबिलो ध्वनिम्।
त्रिग्रंथिभेदं शृणुयात् सुसूक्ष्मं स समाधिभाक्।।40।।

यह शांभवी मुद्रा धारण कर के दोनों हाथ के अंगूठों से कान, तर्जनीयों से आँखें, और मध्यामाओं से नाक यह बिलों को बंद कर के, दृढ आसन में बैठ कर, दाहिने कान में जो अतिसूक्ष्म, ब्रह्म-विष्णु-रुद्र इन तीनों ग्रंथियों का भेद करनेवाला ध्वनि सुनता है उसे समाधिलाभ होता है। इस प्रकार से सभी बिलों को बंद करने को **पराङ्मुखी मुद्रा** के नाम से भी जाना जाता है। इस मुद्रा से सुषुम्णा में नादों की अभिव्यक्ति होती है। इस नाद की चार अवस्थाएँ योगशास्त्र में बताई गई हैं। **आरंभा**वस्था में हृदयस्थित अनाहत चक्र में भूषणों के ध्वनिसदृश नाद आता है। पश्चात् कंठस्थित विष्णुग्रंथी का भेद हो कर भेरी का नाद प्रकट होता है। यह **घटा**वस्था है। तीसरी **परिचया**वस्था में भ्रूमध्यस्थित रुद्रग्रंथी का भेद होता है तब विशिष्ट वाद्य का नाद सुनने में आता है। इस से योगी के चित्तवृत्तीरूप आनंद का लोप होता है और सहज आत्मानंद की अभिव्यक्ति होती है। वह दुःख, जरा, क्षुधा, तृषा, निद्रा से मुक्त हो जाता है। चौथी **निष्पत्ती** अवस्था में प्राण ब्रह्मरंध्र में स्थिर हो जाता है और दाहिने कान में बाँसुरी जैसा सूक्ष्म नाद सुनने में आता है। चित्त की अतीव एकाग्रता से युक्त इसी स्थिति को राजयोग कहते हैं। भगवत्पाद का कहना है कि **सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके। नादानुसंधानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्।**

इस प्रकार श्रीस्वामीमहाराज ने आसन से ले कर समाधि तक छह अंगों का विवेचन किया। पहले सिद्धासन दृढ कर के तीन बंधों के साथ प्राणायाम की विधि बताई। इस में शक्तिचालन के लिये भस्त्रिका कुंभक का और उस के साथ कंदताडन का विशेष प्रतिपादन किया है। शक्ति के ब्रह्मरंध्र तक सुचारु रूप से आवागमन के लिये खेचरी मुद्रा को प्राधान्य दिया। चंद्र से स्रवते अमृत का पान करने के लिये खेचरी के साथ ही विपरीतकरणी का विधान किया। इस प्रकार प्राणजय और बिंदुजय करने के बाद राजयोग में क्रमशः प्रत्याहार,

धारणा, ध्यान और समाधि सूत्ररूप से बताए। अब अंत में पहले दो अंगों का निर्देश मात्र कर के यह अष्टांगयोग का रहस्य पूरा करते हैं।

यम और नियम

यमेन दशधा नूनं दशधा नियमेन च। आसनाद्येन षट्केन योगोऽष्टांगोऽयमुच्यते।।41।।

यम और नियम यहाँ दशधा बताते हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः। दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश।।

तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धांतवाक्यश्रवणम् ह्रीमती च तपो हुतम्।

नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः।।

पातंजल सूत्रों में यम और नियम पांच पांच ही गिनाए हैं। उन में बढौती कर के हठयोग में दस यम और दस नियम का विधान है। यम दोषों से बचने को कहते हैं। हिंसा न करें, झूठ न बोले, चोरी ना करें इत्यादि। नियम गुणों के संग्रह का नाम हैं। इन का निर्देश योगरहस्य के अंत में करने का महाराजश्री का संभवतः यह अभिप्राय है कि जैसे योगाभ्यास के आरंभ में इन का पालन आवश्यक है वैसा ही सिद्धि प्राप्त होने पर भी योगी को लोकसंग्रह की दृष्टी से इन का आचरण करना महत्त्वपूर्ण है।

अब इस अष्टांगयोग की फलश्रुति कहते हैं।

फलश्रुति

एतेनाष्टांगयोगेन प्रबुद्धः स्वल्पसंविदा। शुभाशुभविनिर्मुक्तो देही ब्रह्ममयो भवेत्।।42।।

इस आठ अंगों के योग से जीव सूक्ष्मतर ब्रह्म का भी ज्ञान प्राप्त कर, पाप और पूण्यों से छूट कर ब्रह्मरूप हो जाता है।

अंत में इस योग को परम रहस्य बताते हुए जिस किसी अनधिकारी को कहने का निषेध किया है।

इदं रहस्यं परमं नाख्येयं यस्यकस्यचित्।।

इस योगरहस्य को समझने में यह लेखक सर्वथा अकिंचन है। प.पू. प्रातःस्मरणीय श्रीगुरुचरणों के विवरण के प्रकाश में यथामति यथाशक्ति यह निरूपणसेवा उन्हीं की चरणों में समर्पित है। इस में यदि कोई यत्किंचित् प्रबोधन हो तो वह श्रीगुरुमहाराजजी की कृपा है। शेष सब अज्ञान इस सेवक का है।

प.पू. श्रीरंग अवधूत महाराज की इस तपोभूमि में, इस श्रीरंगवाटिका में, यह सेवा करने का अवसर मुझे दे कर श्रीवासुदेव-प्रबोधिनी के महासचीव प्रा. शहापूरकरजी ने मेरा बहुमान किया है। उस के लिए मैं उन का अत्यंत कृतज्ञ हूँ। मेरी योग्यता के अभाव में भी उन्हों ने केवल आत्मीयता से मुझ पर यह अनुग्रह किया है। उन का तथा प्रबोधिनी के अध्यक्ष पू. डॉ. धीरूभाईजी जोशी, उपाध्यक्ष प.पू. श्रीनारायणकाका ढेकणे महाराज, पू. उपाध्यक्ष श्री. देव तथा अन्य पदाधिकारियों और श्रीदत्तपदाश्रित महानुभावों का निरुपचारिक स्नेह, प.प.श्री. वासुदेवानंदसरस्वती(टेंबे) स्वामी महाराज की कृपा का ही आविष्कार है। वह इसी प्रकार वर्धिष्णु रहें यही श्रीगुरुचरण यागीराज प.पू. श्री. गुळवणी महाराज के चरणकमलों में प्रार्थना है।

श्रीगुरुदेव दत्त।